प्रथम अध्याय

Chapter- 1

अध्याय - 1

विषय - प्रवेश

(i) नाटक का स्वरूप :

नाटक के उद्‌भव के मूल में मानव की कुछ सहज प्रवृत्तियाँ कार्य करतीं हैं जैसे आत्मविस्तार की वृत्ति, अनुकरण की वृत्ति, आत्मप्रकाशन और जाति-रक्षा की भावना। मनुष्य की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह अपनी शक्ति, अधिकार, उपभोग और आनन्द की सीमा को विस्तृत करना चाहता है। वह निरंतर अपनी ससीम स्थिति से निकलकर असीम की ओर बढ़ना चाहता है, वह निरंतर अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। इसी माध्यम के द्वारा इस आत्मविस्तार की वृत्ति को संतुष्ट करने के लिए, हम जो नहीं है उसका रूप धारण करने में प्रवृत्त होते हैं। आत्मविस्तार की कामना हमें कृत्रिम रूप धारण करने के लिए विवश करती है। हम जिसका रूप धारण करते हैं हमें उसकी वेशभूषा का, स्वभाव का, चेष्टाओं का अनुकरण करना पड़ता है। मानव में यह वृत्ति इतनी प्रबल और सहज होती है कि बचपन में ही इसका अंकुर प्रस्फुटित हो जाता है - बालक का पिता की पगड़ी पहन कर मूँछ लगाकर, छड़ी पकड़कर, पिता की नकल करने में निश्चय ही आत्मविस्तार और अनुकरण की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। नाटक वस्तुतः इस वृत्ति को अभिव्यक्त करने का प्रमुख सभ्य और संस्कृत साधन है। आत्मविस्तार की वृत्ति के समान आत्मप्रकाशन भी मानव की सहज वृत्ति है, साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा नाटक में इस वृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए अधिक व्यापक क्षेत्र होता है। नाटक की शब्द-योजना, अंग-संचालन, भाव-भंगिमा, रंगमंच स्थापना अनेक व्यक्तियों के मानसिक और चारित्रिक वैशिष्ट्य को साकार रूप प्रदान करने में सहायक होती है।

अन्य साहित्यिक रूपों की अपेक्षा नाटक में समाज में प्रचलित सत् असत् प्रवृत्तियों का प्रकाशन अधिक होता है। नाटक के माध्यम से दर्शक यह देखने में समर्थ होता है कि उसका अपना समाज किस दिशा में बढ़ रहा है। वह उन सभी प्रवृत्तियों से परिचय पा लेता है जो जातीय विकास में बाधक हो सकती हैं। जाति-रक्षा की भावना निःसंदेह नाटककार को आंदोलित करती है क्योंकि जब वह समाज या राष्ट्र की रक्षा की भावना से संचालित होता है तभी वह समाज की प्रथाओं का विश्लेषण करने में प्रवृत्त होता है।

पाणिनी नाटक की उत्पत्ति 'नट' धातु से मानते हैं और रामचंद्र गुणचंद्र ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'नाट्यदर्पण' में इसका उद्‌भव 'नाट्' धातु से माना है। बेवर और मोनियर विलियम्स का मत है कि 'नट्' धातु 'नृत' धातु का प्राकृत रूप है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में 'नट' और 'नृत्' दोनों धातुएँ समान अर्थ में प्रयुक्त होती थीं किन्तु बाद में 'नट्' धातु का अर्थ अधिक व्यापक होता चला गया। 'नट्' धातु का अर्थ प्रारंभ में अंग-संचालन और अभिनय दोनों ही अर्थों में किया जाता था किन्तु बाद में 'नृत्' धातु का प्रयोग अंग-संचालन के अर्थ में और 'नट्' का प्रयोग अभिनय के अर्थ में होने लगा। दशरूपक के रचयिता धनंजय ने नृत्त, नृत्य और नाट्य का अन्तर स्पष्ट किया है। नृत्त ताल-लय के आश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित होता है किन्तु नाट्य रसाश्रित होता है।

'अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम, नृत्तं तालल्याश्रयम। अवस्थानुकृतिर्नाट्यम, दशद्यैव रसाश्रयम' (द.रू: प्र.प्र. 9/7)

इससे लगता है कि नृत्त और नृत्य नाट्य की ही दो भूमिकाएँ हैं।

नाटक के स्वरूप के विषय में आचार्य भरत ने लिखा है कि जिसमें स्वभाव से ही लोक का सुख-दु:ख समन्वित होता है और जिसका अंगों आदि के द्वारा अभिनय किया जाता है उसे नाटक कहते हैं।' आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार - नाटक वह दृश्य काव्य है जो प्रत्यक्ष कल्पना एवं अध्यव्यवसाय का विषय बनकर सत्य तथा असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्व साधारण को आनन्द प्रदान करता है।' साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने नाटक को वह रचना माना है जिसकी कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध हो, जिसमें अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन हो, अंक संख्या पाँच से दस तक हो, नायक उच्च वंश उत्पन्न, धीर, वीर एवं प्रतापी हो, जिसमें अंगीरस श्रृंगार अथवा वीर हो तथा अन्य रस सहायक हों, संधियों आदि का उचित समावेश हो।

यह परिभाषा स्पष्टत: संस्कृत नाटकों की विकसित परंपरा की द्योतक है।

आधुनिक हिन्दी नाटकों के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चंद्र के अनुसार काव्य के सर्वगुण खेल को नाटक कहते हैं।

बाबू गुलाबराय का मानना है कि नाटक में जीवन की अनुकृति को शब्दगत संकेतों में संकुचित करके उसको सजीव पात्रों द्वारा एक चलते-फिरते सप्राणरूप में अंकित किया जाता है। नाटक जीवन की सांकेतिक अनुकृति नहीं है, वरन् सजीव प्रतिलिपि है।

पश्चिम में नाटक के लिए 'ड्रामा' शब्द का प्रयोग होता है। 'ड्रामा' मूलत: ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ है 'कृत' अथवा 'किया गया' । 'थियेटर' जिस यूनानी शब्द से निकला है उसका अर्थ है - प्रेक्षण स्थल। 'ऑडियन्स' लैटिन भाषा से आया है। नाटक के इतिहास का अधिकांश परिवर्तनोन्मुख नाटकीय मूल्यों की कहानी है। प्राचीन काल में नाटकों में संवेगों का प्रस्तुतीकरण प्रधान था किन्तु धीरे-धीरे विचार-प्रधानता का समावेश हुआ और दोनों को महत्त्व दिया जाने लगा। अनुकरण एवं प्रेक्षक समाज की उपस्थिति दोनों ही नाटक के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के रूप में उभरे। नाटक में अभिव्यक्त होनेवाले इन सभी आयामों को सिसेरो का यह बहुचर्चित मुहावरा सार्थक रूप से ध्वनित करता है, "नाटक जीवन की अनुकृति, सामाजिक व्यवहारों का दर्पण एवं सत्य का प्रतिबिंब है।"[1]

इन सभी परिभाषाओं में प्रयुक्त अनुकरण और अभिनय शब्द के आधार पर कहा जा सकता है कि नाटक जीवन की अनुकृति है और नाटक में यह अनुकृति अभिनयात्मक होती है। नाटक साहित्य की ऐसी विधा है जिसकी सफलता का परीक्षण रंगमंच पर होता है और रंगमंच युग-विशेष की जनरुचि और तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर निर्मित होता है। रंगमंच के व्यवस्थापकों एवं

कलाकारों को नाटक के साहित्यिक एवं कलागत मूल्यों के साथ-साथ रंगमंच के संस्थापकों की रुचि का ध्यान भी रखना पड़ता है, अतः नाटक का स्वरूप हर युग में परिवर्तित होता रहता है।

आधुनिक धारणा के अनुसार नाटक जीवन की व्याख्या है, जो हमारी समस्याओं एवं उनके हलों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। नाटक मानवीय अभिव्यक्ति का एक श्रेष्ठ साधन है। आज नाटक आकार में लघुता, उद्देश्य में सूक्ष्म मनोविश्लेषण तथा माध्यम में पाठ्य और कलात्मक अभिनय की दिशा में उन्मुख है।

(ii) हिन्दी नाटक और रंगमंच का विकास - मोहन राकेश तक :

प्रत्यक्ष अनुभूति एवं सीधे साक्षात्कार के अत्यन्त रोमांचक अनुभव तथा मानव-जीवन एवं परिवेश के घात-प्रतिघात से युक्त होने के कारण नाट्यविधा साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक जटिल एवं संश्लिष्ट विधा रही है। नाटक की इन्हीं विशेषताओं के कारण उसे 'पंचमवेद' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। संस्कृत के आचार्यों ने 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहकर नाट्यविधा की व्यापकता एवं उसकी सामाजिक उपादेयता को अभिव्यक्त किया है। यद्यपि हिन्दी-नाटक के विकास की एक लंबी प्रक्रिया रही है जिसमें विकास के विभिन्न चरण एवं परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं लेकिन भारतेन्दु से पूर्व का नाट्य साहित्य न तो किसी सार्थक मानवीय अनुभव को व्यक्त कर पाता है और न ही उसमें नाट्यकला का सर्जनात्मक उन्मेष दृष्टिगोचर होता है। इस स्थिति के कई कारण थे : भाषा - संबंधी, राजनैतिक - सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ। भारतेन्दु-युग में पहली बार हिन्दी गद्य का वयस्क रूप देखने को मिलता है, जिसे भारतेन्दु ने इस वक्तव्य द्वारा सार्थक ढंग से अभिव्यक्त किया है : 'हिन्दी नए चाल में ढली।' इससे पूर्व पद्य के रूप की तो सम्यक् प्रतिष्ठा हो चुकी थी, लेकिन गद्य का प्रौढ़ साहित्यिक रूप विकसित न होने के कारण नाटक जैसी संश्लिष्ट विधा की रचना संभव न हो सकी। दूसरे मुस्लिम शासन काल में अनुकरण प्रधान कलाओं को बढ़ावा न दिया जाना भी नाटक जैसी अनुकरण-प्रधान कला के विकास में अवरोधक सिद्ध हुआ। तीसरा चौदहवीं शताब्दी के आस-पास भक्ति-आंदोलन की प्रबलता थी। भक्ति-आंदोलन में 'आत्मसमर्पण' और 'वैराग्य' की भावना केन्द्रीय होने के कारण 'जातीय उत्साह' का स्वर काफी क्षीण हो गया, जो नाटक जैसी गतिशील विधा के लिए आवश्यक था। इन सभी कारणों की वजह से भारतेन्दु से पूर्व मौलिक हिन्दी नाटकों की परंपरा का अधिक विकास न हो सका। विद्वानों ने हिन्दी नाटक के उदय और विकास को निम्नलिखित तीन परंपराओं से जोड़ा है :

1. प्राचीन काल से अभिनीत होनेवाले लोक नाटक
2. संस्कृत के नाट्य रासक और अपभ्रंश के रासक ग्रंथ

3. ब्रजभाषा में रचित पौराणिक नाटक

पंडित हर प्रसाद शास्त्री एवं डॉ. दशरथ ओझा विभिन्न प्रदेशों में विकसित लोकनाटकों जैसे - बंगाल में यात्रा, महाराष्ट्र में तमाशा, गुजरात में भवई, दक्षिण में यक्षज्ञान, हिन्दी प्रदेश में नौटंकी, स्वांग, रासलीला, रामलीला इत्यादि को हिन्दी नाटक की परंपरा का मूल स्त्रोत मानते हैं, साथ ही वे अपभ्रंश के रासक ग्रंथों को हिन्दी का प्रारंभिक नाट्य साहित्य स्वीकार करते हैं। ये दोनों ही स्थापनाएँ तर्कसंगत प्रतीत नहीं होतीं क्योंकि अपभ्रंश के रासक ग्रंथों में गेय-तत्त्व की प्रधानता है एवं नाटकीयता का नितान्त अभाव है।

हिन्दी नाटकों के उदय को लोक-नाटकों से भी पूर्णतः प्रभावित नहीं माना जा सकता क्योंकि उनका हमेशा से स्वतंत्र अस्तित्व रहा है। अतः कहा जा सकता है कि संस्कृत नाटकों की परंपरा और लोक-नाटकों ने हिन्दी नाट्य साहित्य को प्रभावित तो किया किन्तु हिन्दी नाटकों के उदय में उनकी कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं थी।

संस्कृत, अपभ्रंश एवं लोकनाटकों से हिन्दी-नाटक का संबंध जोड़ने के अलावा ब्रजभाषा में रचित पौराणिक नाटकों से भी हिन्दी नाटक के उदय एवं विकास को जोड़ा जाता है।

इन पौराणिक नाटकों में प्राणचन्द का 'रामायण महानाटक', कृष्णजीवन लछिराम का 'करूणाभरण', उदय कवि का 'हनुमान नाटक', एवं महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनंद रघुनन्दन' जैसे मौलिक नाटक तथा महाराज यशवंत सिंह द्वारा अनूदित 'प्रबोध चंद्रोदय', नेवाज कवि द्वारा 'शकुन्तला' नाटक, सोमनाथ माथुर द्वारा 'माधव विनोद' तथा राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा संस्कृत से अनूदित 'शकुन्तला' नाटक प्रमुख हैं। लेकिन ये ग्रंथ इतने वर्णनात्मक एवं काव्यात्मक हैं कि इन्हें छन्दप्रधान ग्रंथ तो कह सकते हैं, लेकिन नाटक नहीं। केवल 'आनन्द-रघुनन्दन' को ही हिन्दी का मौलिक नाटक कहा जा सकता है क्योंकि इसमें नाटक के अनेक तत्व जैसे - गद्य-पद्य मिश्रित भाषा, कथोपकथन, नान्दी-पाठ, प्रस्तावना, भरत-वाक्य, अंक-विभाजन, नाट्य-सांधियाँ, संगीत इत्यादि मिलते हैं। भारतेन्दु से पूर्व नाटकों की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि - "विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ। भारतेन्दु से पहले 'नाटक' के नाम से जो दो-चार ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखे गए थे, उनमें महाराज विश्वनाथ सिंह के 'आनंद रघुनंदन' नाटक को छोड़ और किसी में नाटकत्व न था।"[2]

यद्यपि ब्रजभाषा में रचित नाटक एक सुव्यवस्थित नाट्य-परंपरा की नींव नहीं डालते, लेकिन ये हिन्दी नाटक का पूर्वरंग अवश्य प्रस्तुत करते हैं। भारतेन्दु के समानान्तर ही एक अन्य प्रकार की नाट्यधारा का भी विकास हुआ, जो मुख्यतः व्यावसायिक थियेटर कंपनियों द्वारा प्रदर्शित की गई। इनमें प्राचीनतम उदाहरण 'अमानत' की 'इन्दरसभा' (1853) है जो अपने विशिष्ट संवाद, हिन्दी उर्दू मिश्रित भाषा, संगीत की प्रधानता, पात्र-प्रवेश की विशिष्ट आत्मपरिचयात्मक शैली के कारण

न केवल वर्षों तक लोकप्रिय रहा, बल्कि एक ओर पारसी रंगमंच ने इससे प्रभाव ग्रहण किया तो दूसरी ओर कुरुचिपूर्ण कहते हुए भी भारतेन्दु, जयशंकर प्रसाद तथा उनके समकालीन नाटककार इसके प्रभाव से बच नहीं पाये। बहरहाल, हिन्दी नाटक एवं रंगमंच की सुदृढ़ नींव डालने में 'इन्दरसभा' की भूमिका असंदिग्ध है।

हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास में भारतेन्दु की भूमिका युग-प्रवर्तक की है। उनके लिए नाट्य-साहित्य एक संपूर्ण आंदोलन था - स्वाधीनता आंदोलन, सांस्कृतिक आंदोलन, सामाजिक-धार्मिक आंदोलन एवं साहित्यिक आंदोलन। उन्होंने न केवल नाटक को युगीन समस्याओं, जन-जागरण, समकालीन राष्ट्रीय आंदोलन एवं मनुष्य की संवेदना से जोड़ा बल्कि नाटक और रंगमंच के परस्पर संबंध को समझते हुए नाट्य रचना की और इस तरह रंगकर्म के नए प्रतिमान स्थापित किए। भारतेन्दु की इस ऐतिहासिक भूमिका को रेखांकित करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने उन्हें हिन्दी नव जागरण और प्रगतिशील चेतना का अग्रदूत मानने के साथ-साथ यह भी कहा कि :

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का यह युगान्तकारी महत्व है कि उन्होंने अपने प्रदेश की सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पहचाना।"[3]

स्वयं रंगकर्मी होने के नाते अभिनेता और निर्देशक के रूप में उनकी सक्रियता नाट्यकर्म को महज सैद्धांतिक प्रक्रिया नहीं रहने देती, बल्कि उसे ठोस प्रायोगिक रूप प्रदान करती है, उनके नाटकों में विषय और शैली दोनों की विविधता मिलती है। भारतेन्दु का प्रयास चूँकि हिन्दी नाट्यकला के मूल रूप का अन्वेषण और उसकी स्थापना करना था, अतः उनमें न तो प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र का और न ही पश्चिमी नाट्यशास्त्र का अंधानुकरण मिलता है। उनके नाटकों में इन दोनों नाट्य-पद्धतियों के प्रासंगिक तत्त्वों के सामंजस्य के साथ-साथ नए प्रयोग भी मिलते हैं। नाटक उनके लिए तत्कालीन चुनौती को व्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम था। इसीलिए अपने समय और समाज की विविध आवश्यकताओं के अनुरूप उनके नाटकों में भी विविधता मिलती है। अगर 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति में मांस-भक्षण, मदिरापान, परस्त्री-गमन इत्यादि सामाजिक बुराईयों का व्यंग्यात्मक चित्रण किया गया है तो 'विषस्य विषमौषधम' में अंग्रेजों की शोषणनीति और भारतीयों की मोहासक्त मानसिकता को उजागर किया है। 'प्रेमजोगिनी' में काशी के धर्माडम्बर का वहीं की बोली में खुलासा किया है तो 'भारत-दुर्दशा' में ब्रिटिश शासन की अमानवीयता और भारतीय जन मानस की कमज़ोरियों की बेबाक अभिव्यक्ति मिलती है। जन समूह तक अपनी भावनाओं को पहुँचाने के लिए भारतेन्दु ने लोककथा और प्रहसन की शैली का अत्यंत सार्थक उपयोग किया है। लोक-कथा के ताने-बाने में लिपटी 'अंधेर-नगरी' राज्यसत्ता की विवेकहीनता, भ्रष्टाचार और चाटुकारिता के साथ-साथ मनुष्य की लोभवृत्ति पर तीखा कटाक्ष करती है, जो आज भी अत्यंत प्रासंगिक है। अपने विषय की प्रासंगिकता एवं शिल्प की ताजगी के कारण 'अंधेर नगरी' हिन्दी नाट्य लेखन और रंगमंच की एक अभूतपूर्व कृति मानी जाती है।

भारतेन्दु ने न केवल स्वयं नाट्यलेखन किया बल्कि अपने प्रतिनिधि मंडल से भी नाटक लिखवाये एवं अनूदित कराए, जिसके कारण संपूर्ण भारतेन्दु युग सक्रिय नाट्यलेखन का दौर बन जाता है और इस तरह हिन्दी नाट्य साहित्य के विश्वास का पहला सोपान बन जाता है। यथार्थ की विषमता का बोध एवं विषमता-बोध से उत्पन्न संवेदना में पीड़ा या छटपटाहट होने के कारण भारतेन्दु-युगीन नाटक सामाजिक चेतना और उत्तरदायित्व से युक्त हो गए। व्यंग्य, सामाजिक-विरूपता, कथनी-करनी एवं सिद्धांत और व्यवहार के अंतर को भारतेन्दु ने प्रभावशाली रूप से नाटकों में व्यक्त किया। भारतेन्दु व्यक्ति नहीं अपितु एक संस्था बन गए। उन्होंने न केवल उत्कृष्ट नाटक लिखे बल्कि 'नाटक' नामक निबंध में नाटककार को किन बातों का ध्यान रखना चाहिए यह भी बताया। नाटक की दृश्यता और उनकी प्रभावोत्पादकता पर बल देते हुए उन्होंने लिखा कि यदि श्रव्य काव्य द्वारा ऐसी चितवन का वर्णन किसी से सुनिये या ग्रंथ में पढ़िये तो काव्य-जनित आनंद होगा। यदि कोई प्रत्यक्ष अनुभव करा दे तो उसे चतुर्गणित आनन्द होगा।' समकालीनता के दबाव को रचना में आवश्यक ठहराते हुए उन्होंने लिखा कि सहृदयगण के अंतःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकीय दृश्य - काव्य प्रणयन करने योग्य हैं। इन्हीं विचारों से नाटक संबंधी हिन्दी आलोचना का सूत्रपात हुआ किन्तु भारतेन्दु की मृत्यु के साथ ही हिन्दी नाट्य-लेखन की यह सक्रिय परम्परा शिथिल पड़ गई। भारतेन्दु के समय में ही नाटक और रंगमंच की एक अन्य धारा भी अत्यन्त सक्रिय थी जिसे व्यावसायिक पारसी कंपनियाँ चला रहीं थीं। आगा हश्र, राधेश्याम कथावाचक, नारायण प्रसाद बेताब, हरिकृष्ण जौहर जैसे लेखक राष्ट्रीयता, धार्मिक पुनरुत्थान तथा अन्य सामाजिक - सांस्कृतिक स्थितियों पर नाटक लिखकर जनता में काफी लोकप्रिय हो रहे थे। ब्रिटिश शासन के भय से इन नाटकों में मेलोड्रामा, रोमानियत, शेरो-शायरी, संगीत-नृत्य एवं भड़कीले सेट को प्रधानता दी जाने लगी, जिससे बुद्धिजीवी वर्ग और हिन्दी नाटककारों ने इसे भ्रष्ट और अश्लील कहकर इसका बहिष्कार किया। इस प्रकार पारसी नाटकों की प्रतिक्रिया में एक विशेष प्रकार का नाट्य साहित्य लिखा जाने लगा जो रंगमंच से अधिकाधिक कटता चला गया।

हिन्दी नाटक और रंगमंच के इतिहास में जयशंकर प्रसाद दूसरे ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने नाटक को कई तरह से प्रभावित किया। उन्होंने भारतीय, शास्त्रीय एवं सांस्कृतिक परंपराओं को आत्मसात करते हुए समूचे राष्ट्रीय संघर्ष और अपने समय के प्रश्नों को एक विराट फलक पर प्रस्तुत किया। उनके नाटकों में मनुष्य के अंतर्जगत की जटिलता एवं द्वंद्व को पूरी संवेदना के साथ उद्घाटित किया गया है और यह संभव हो पाया है नाट्यभाषा में निरंतर क्रिया-प्रतिक्रिया और टकराहट से उत्पन्न होनेवाली नाटकीयता के द्वारा। प्रसाद ने हिन्दी नाटकों को जो जीवंत चरित्र दिए वे आज भी अपनी मानवीयता एवं संवेदनशीलता के कारण अनूठे जान पड़ते हैं। उनके सभी पात्र नायक-नायिका की शास्त्रीय परंपरा से मुक्त हैं। चंद्रगुप्त, चाणक्य, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी जैसे चरित्र इस बात की मिसाल हैं। पारसी नाटकों की सस्ती

लोकप्रियता से क्षुब्ध होकर प्रसाद ने हिन्दी नाटकों को क्लासिकी परिवेश, उदात्त भावबोध, रोमान्टिक दृष्टि और एक आन्तरिक संगीत दिया, जो काव्यात्मक सौंदर्य से लबरेज़ है। रंगमंच की पृथक सत्ता के अभाव एवं समीक्षा दृष्टि के कारण प्रसाद के नाटक पूर्वग्रह के शिकार रहे एवं प्रायः उन्हें 'अनअभिनेय' माना जाता रहा, लेकिन स्वतंत्रता के बाद हिन्दी रंगादोलन एवं नवनाट्य समीक्षा के विकास के बाद अधिकांश नाट्य समीक्षकों एवं निर्देशकों ने प्रसाद के योगदान को एकमत से स्वीकार किया है। प्रसाद के नाटकों को 'अभिनय के योग्य' नहीं माननेवाले आलोचक यथार्थवादी प्रदर्शन के चौखटे में उनके नाटकों को 'फिट' करने की कोशिश करते हैं, जबकि ये नाटक कल्पनापरक एवं प्रयोगशील रंगदृष्टि की माँग करते हैं। हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास में प्रसाद के योगदान को रेखांकित करते हुए श्री गिरीश रस्तोगी ने लिखा है कि :-

"प्रसाद के नाटकों में जो भारतीय क्लासकी तत्व, जो भारतीयता और आधुनिकता का संघर्षमूलक संतुलन, जो संगीत और काव्य की आंतरिक लय, मनःस्थितियों की सूक्ष्म जटिल संवेदना मिली, वह अपनी विशिष्टता और मौलिकता में आज भी अकेली है।"[4]

जिस प्रकार भारतेन्दु के द्वारा स्थापित नाट्य परंपरा उनकी मृत्यु के साथ ही शिथिल पड़ गई उसी प्रकार प्रसाद की नाट्यचेतना को भी रचनात्मक एवं संगठित रंग-आंदोलन के रूप में विकसित नहीं किया जा सका। यद्यपि प्रसाद-युग में बहुत सारा नाट्य-साहित्य लिखा गया, लेकिन उनमें नाट्य भाषा और मानवीय संवेदना का सर्जनात्मक रूप उभर कर सामने नहीं आता। इस युग में कवि, कथाकार एवं आलोचक सभी नाटक लिख रहे थे जिनमें प्रमुख हैं - प्रेमचन्द, सुदर्शन, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, विशवंम्भरनाथ शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, मिश्रबन्धु इत्यादि लेकिन इन नाटककारों का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय जागरण एवं स्वतंत्रता संग्राम का संदेश देना था, नाटकीय तत्व उनके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं थे। इसी कारण इन नाटकों में न तो वह भावोन्मेष है और न ही शिल्प की कसावट है, जो किसी भी नाटक की केन्द्रीय धुरी कही जा सकती है। इस युग में प्रहसनों की भी परंपरा मिलती है जिनमें उल्लेखनीय हैं : जी.पी. श्रीवास्तव का 'गड़बड़झाला', गोविन्दवल्लभ पंत का 'कंजूस की खोपड़ी' एवं 'दुमदार आदमी', सुदर्शन का 'ऑनरेरी मजिस्ट्रेट', बेचनशर्मा उग्र का 'चुंबन' और 'चार बेचारे'। इन प्रहसनों में मध्यवर्गीय मनुष्य की प्रवृत्ति, सरकारी चापलूसी एवं पाश्चात्य सभ्यता को हास्य-व्यंग्य का लक्ष्य बनाया गया है। इन प्रहसनों में भी विषय की ही प्रधानता है, नाटकीय सौंदर्य की नहीं। कुल मिलाकर प्रसाद-युग में हिन्दी के मौलिक नाट्य स्वरूप के अन्वेषण के प्रयास तो दिखाई पड़ते हैं, किन्तु नाटक एवं रंगमंच का कोई सर्जनात्मक रूप प्रसाद के अतिरिक्त उपलब्ध नहीं होता।

प्रसादोत्तर हिन्दी नाटक में मुख्य रूप से दो धाराएँ मिलती हैं : एक सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना की तथा दूसरी यथार्थवादी चेतना व समस्या नाटक की। प्रथम धारा के उल्लेखनीय नाटक हैं - हरिकृष्ण प्रेमी के 'रक्षाबन्धन' एवं

'आहुति', गोविन्दवल्लभ पंत का 'राजमुकुट' एवं 'वरमाला', उदयशंकर भट्ट का 'दादर' एवं 'विक्रमादित्य', सेठ गोविंददास का 'कर्तव्य' एवं 'हर्ष', वृन्दावनलाल वर्मा का 'झांसी की रानी' एवं उपेन्द्रनाथ-अश्क का 'जय-पराजय'। दूसरी धारा के प्रमुख नाटक हैं - लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'मुक्ति का रहस्य', 'सिन्दूर की होली' एवं 'राक्षस का मंदिर', पृथ्वीनाथ शर्मा के 'दुविधा' एवं 'अपराधी' तथा उदयशंकर भट्ट का 'कमला'। लेकिन इन सभी नाटकों की सबसे बड़ी सीमा थी कि वे मुख्यतः विषय प्रधान थे। निश्चित विचार या पूर्वनिर्धारित स्थापनाओं के कारण इन नाटकों में न तो जीवन्त पात्र हैं, न ही संवेदनशील मानव- स्थितियाँ और न ही नाट्य-भाषा एवं रंगमंचीय कल्पना का सर्जनात्मक उन्मेष। लेकिन इन सबके बीच उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटक नाटकीय संभावना से युक्त होने के कारण विशिष्ट स्थान रखते हैं। यद्यपि वे चौथे दशक के उत्तरार्ध से नाटक लिख रहे थे, लेकिन उनका अधिकांश नाट्यलेखन पाँचवे दशक के उत्तरार्ध के बाद हुआ। उनके नाटक बहुत हद तक बनावटी साहित्यिकता से मुक्त हैं और वे जीवन को सही रूप में पेश करते हैं, साथ ही इनमें रंगमंच के उपयुक्त नाट्यभाषा भी है। इन नाटकों में वैयक्तिक कुंठा और सामाजिक समस्याओं को यथार्थवादी ढंग से पेश किया गया है। 'कैद' में अनुपयुक्त व्यक्ति से विवाह करनेवाली युवती के जीवन की नीरसता और व्यर्थता की अभिव्यक्ति है, तो 'उड़ान' में पुरूष द्वारा नारी को देवी, दासी या खिलौना मानने की तीन प्रवृत्तियों का विश्लेषण है। 'भँवर' में उच्चवर्ग की शिक्षित नारी की कुंठा को पेश किया गया है, तो 'पैंतरे' में फिल्मी दुनिया की बनावटी जिंदगी और मारधाड़ पर व्यंग्य है। 'अंजो दीदी' में समाज के यांत्रिक नियमों से विद्रोह का स्वर प्रमुख है। लेकिन इन सबके बावजूद उनके नाटक सार्थक रंगसृष्टि की योजना नहीं करते क्योंकि उनमें जीवन की संश्लिष्टता और नाटकीय क्रिया-व्यापार की गति का अभाव है। इस संदर्भ में श्री नेमिचन्द्र जैन की टिप्पणी अत्यंत सटीक प्रतीत होती है :

"ये सब कृतियाँ नाटक की नई यात्रा में पहली मंजिल की सूचक हैं। वे लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी जैसे लेखकों की खोखली, बनावटी साहित्यिकता से बहुत कुछ मुक्त हैं और नाटक के सही और असली यानी रंगानुकूल रूप में जिंदगी के अनुभव को पेश करती हैं। पर इस रंगमंचीय आयाम के साथ जीवन की कोई गहरी समझ या तलाश उनमें नहीं है। ... ... दरअसल अश्क के नाटकों की देन नाटक के लिए भाषा तलाश करने की शुरूआत में तथा स्वयं किसी हद तक उस तरफ बढ़ने में है। उनकी भाषा में बिलाशक बोलचाल की रवानगी और नाटकीयता है। कथ्य सतही होने के कारण उनमें भी काव्यात्मक व्यंजना नहीं है फिर भी उन्होंने नाटक के लिए ऐसी भाषा तैयार की जिसमें रोमान्टिक युग की अस्पष्टता, धुंधलापन, ओजप्रियता और भाषणात्मकता बहुत कम है।"[5]

हिन्दी नाटक और रंगमंच की विकास परंपरा में अगला महत्वपूर्ण पड़ाव जगदीशचंद्र माथुर के नाटक हैं। उनके नाटकों में मानवीय स्थितियाँ अधिक स्पष्ट,

प्रामाणिक और मौलिक हैं। साथ ही इन नाटकों में एक नई तरह की नाट्यभाषा का प्रयोग है, जो बोलचाल के समीप होते हुए भी काव्यात्मक व्यंजना से युक्त है। उनके अधिकांश नाटकों में मनुष्य के आंतरिक संघर्ष को पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। 'कोणार्क' और 'शारदीया' में कलाकार और राज्यसत्ता के बीच तथा कलाकार की अपनी प्रेरणा के विभिन्न स्रोतों और स्थितियों के बीच संघर्ष की तलाश है। 'पहला राजा' समाज और राज्य के आपसी संबंध, राज्यसत्ता के स्वरूप और उससे जुड़े व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व को उद्घाटित करता है। लेकिन 'नाट्यभाषा' की काव्यात्मकता एवं लोकनाट्य परंपरा की अनेक युक्तियों के मौलिक प्रयोग के बावजूद इन नाटकों में रूप और कथ्य का संयोजन अनिवार्य नहीं हो पाया है, जिससे ये महत्त्वपूर्ण रचनात्मक उपलब्धि के सोपान तक पहुँचते-पहुँचते रह जाते हैं।

छठा दशक देश भर में नाट्य-आंदोलन की विभिन्न दिशाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन का समय था। इस दौरान रंगकर्म को महज मनोरंजन के एक साधन की बजाए, एक संश्लिष्ट और समर्थ कला माध्यम के रूप में स्वीकृति मिली। रंगमंचीय क्रिया-कलाप को एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक और सर्जनात्मक कार्य का दर्जा मिलने से नाट्यकर्मियों में अधिक संवेदनशीलता, जागरूकता एवं कलात्मक गंभीरता तो आयी ही, साथ ही उन पर जीवन के अनुभव को सहज और रंगानुकूल रूप में अभिव्यक्त करने का दबाव भी बढ़ा। इसी दौरान 1958 में संगीत नाटक अकादमी द्वारा हिन्दी नाटक प्रतियोगिता का आयोजन किया गया जिसमें मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ का एक दिन' को सर्वश्रेष्ठ नाटक एवं अनामिका नाट्य मंडली को सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के लिए पुरस्कार मिला। इन पुरस्कारों ने हिन्दी नाटक और रंगमंच की प्रगति को एक नई गति प्रदान की। इसके उपरांत 1959 में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना और उसमें नाट्य प्रदर्शनों की भाषा के रूप में हिन्दी की स्वीकृति ने भी हिन्दी नाटक के विकास में अहम भूमिका अदा की। इन सब स्थितियों के कारण पहली बार अनेक प्रतिभाशाली निर्देशक, अभिनेता एवं रंगकर्मी सामने आए जो हिन्दी भाषा में सार्थक रंगकर्म को आकार देना चाहते थे। इन सबके सामने कई तरह की चुनौतियाँ थीं : शिक्षित हिन्दी-भाषी अभिनेता तैयार करने की, रंगशिल्प के ज्ञान की, प्रसार की, नाटक को महत्त्वपूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में स्थापित करने की तथा हिन्दी में मौलिक नाटकों के लेखन एवं प्रदर्शन की। धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' एवं मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' उन कुछेक नाट्यकृतियों में से हैं जिन्होंने छठे दशक की इन संभावनाओं का रचनात्मक संश्लेषण किया एवं अपने समय द्वारा प्रस्तुत चुनौतियों पर खरी उतर सकीं। इन नाटकों ने हिन्दी नाटक एवं रंगमंच को एक नयी प्रतिष्ठा, नया आत्मसम्मान दिया।

महाभारत के प्राचीन कथानक पर आधारित धर्मवीर भारती का काव्य नाटक 'अन्धायुग' हिन्दी साहित्य की कालजयी रचना है। लोकजीवन में विख्यात कथानक को नवीन संदर्भों से जोड़कर भारती ने समकालीन अनुभव और अपने युग की समस्याओं को बड़ी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। यह नाटक युद्ध की

विभीषिका और उसके कारण पूरे समुदाय और व्यक्ति के आंतरिक और बाह्य विघटन को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करता है और यह प्रश्न उठाता है कि ऐसे सर्वव्यापी एवं सर्वग्रासी संकट के क्षणों में मनुष्य की क्या जिम्मेदारी होनी चाहिए ? इन प्रश्नों को पूरी तीव्रता, यातना एवं ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करने के साथ ही यह नाटक आज के युद्धों से उत्पन्न विसंगतियों, मूल्यों के विघटन एवं संत्रास की अनुगूँज भी पैदा करता है। 'अन्धायुग' की सबसे बड़ी विलक्षणता मिथकीय चरित्रों की मूल अवधारणा को बिना नष्ट किए उन्हें नया आयाम देने में है। सभी चरित्र अपने-अपने अन्तर्मन में वेदना, यातना और द्वन्द्व झेल रहे हैं। ये स्थितियाँ न सिर्फ महाभारत के पात्रों की हैं, बल्कि उससे अधिक स्वातंत्र्योत्तर भारतीय मनुष्य की नियति, मोहभंग और द्वन्द्व की स्थिति को उद्घाटित करती हैं। अंधायुग की दूसरी सबसे बड़ी उपलब्धि 'काव्य' और 'नाटक' का रचनात्मक संश्लेषण है और यह प्रमाणित करता है कि कोई भी उत्कृष्ट नाट्यकृति 'काव्य' से रहित नहीं हो सकती है।

कथ्य के अनुरूप 'अन्धायुग' का नाट्यरूप भी सर्वथा मौलिक एवं कलात्मक सौंदर्य से पूर्ण है। इसमें पूर्वावलोकन की तकनीक का इस्तेमाल, कथागायन, प्रहरियों तथा वृद्ध याचक की टिप्पणियों द्वारा नई भाव-स्थितियों का उद्घाटन, आरंभ एवं समापन की प्राचीन युक्तियों का प्रयोग जैसे संस्कृत नाट्य परंपरा एवं यूनानी नाट्यशैलियों के विविध आयामों को एक नए सर्जनात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अलावा यह नाटक अपनी लय, बिम्बों, प्रतीकों, ध्वनियों एवं व्यंजनाओं की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है। जटिलतम एवं सूक्ष्मतम भावों को बिम्बों एवं प्रतीकों के माध्यम से अधिक नाटकीय और अर्थगर्भित रूप में प्रस्तुत करने में भारती को अद्भुत सफलता मिली है। पूरा नाटक कार्य-व्यापार से, गत्यात्मक प्रसंगों से भरपूर है। 'अन्धायुग' न केवल नामकरण में बल्कि पात्र-परिकल्पना, घटनाक्रम और प्रसंगों की उद्भावना सभी में प्रतीकात्मक है, जो अर्थ-व्यंजना के नए स्तर को उद्घाटित करता है। नाटक के सभी पात्र अपूर्ण एवं अधूरे हैं तथा बौनी, जर्जर संस्कृति के पोषक हैं। यद्यपि भारती के सामने रंगमंच की कल्पना स्पष्ट नहीं थी और उन्होंने कई रंगयुक्तियों का अनावश्यक प्रयोग किया है। नाटक के बीच-बीच में वर्णनात्मकता भी अधिक है, फिरभी 'अन्धायुग' के रूपबंध, चरित्र संयोजन एवं नाट्यभाषा में एक नवीनता एवं ताजगी है, जो इसे एक क्लासिक कृति का दर्जा देती है।

इन सब विशिष्टताओं के बावजूद 'अन्धायुग' अपने ढंग का अकेला नाटक होकर रह गया, उससे हिन्दी नाटक और रंगमंच को एक नई ऊँचाई तो मिली, लेकिन सामान्य नाट्यलेखन पर उसका बहुत गहरा प्रभाव न पड़ सका।

(iii) हिन्दी नाट्य परंपरा में राकेश के नाटकों का महत्त्व :

हिन्दी नाटक की मुख्यधारा के लिए जो नाटक प्रेरणास्त्रोत एवं मानदंड बना वह था - मोहन राकेश का बहुचर्चित नाटक 'आषाढ़ का एक दिन'। इसमें समकालीन नाट्यलेखन की कई विशिष्टताएँ एक साथ मौजूद हैं जिनका निर्वाह नाटककार ने पूरी कुशलता के साथ किया है। इतिहास का सहारा लेने के बावजूद यह नाटक वास्तव में रचनाकार की आन्तरिक आवश्यकता और द्वन्द्व का, आधुनिक मानव की विवशता का और समकालीन परिस्थिति में स्त्री-पुरूष संबंधों का अन्वेषण करता है। हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास में 'आषाढ़ का एक दिन' की विशिष्ट भूमिका का उल्लेख करते हुए श्री नेमिचन्द्र जैन ने लिखा है कि :

"हिन्दी के ढेरों तथाकथित ऐतिहासिक नाटकों से 'आषाढ़ का एक दिन' इसलिए मौलिक रूप में भिन्न है कि उसमें न तो अतीत का तथ्यात्मक विवरण है, न पुनरुत्थानवादी गौरवगान, और न भावुकता पूर्ण अतिनाटकीय स्थितियाँ। उसकी दृष्टि कहीं ज्यादा आधुनिक और सूक्ष्म है जिसके कारण वह सही अर्थ में आधुनिक हिन्दी नाटक की शुरूआत का सूचक है।"[6]

मगर इस नाटक की भी शायद सबसे बड़ी खूबी है, इसकी भाषा "जो एक क्लासिकी युग का हल्का-सा आभास बनाए रखकर भी बोलचाल के बहुत समीप है। साथ ही उसमें व्यंजना, विडंबना, बिंबपरकता, एकाधिक संदर्भों की अनुगूँज को बड़े संयम और नियंत्रण के साथ संजोया गया है, जिससे पहली बार आधुनिक नाटकीय गद्य का रूप निखर सका है। हिन्दी नाटक के विकास की यह एक ऐसी शर्त और जरूरत थी जिसे पूरा किए बिना किसी महत्त्वूपर्ण उपलब्धि की ओर बढ़ना कठिन था।"[7]

राकेश का अगला नाटक 'लहरों के राजहंस' आधुनिक मनुष्य के द्वन्द्व और जटिलता को तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकार के संदर्भों में स्त्री-पुरूष संबंधों को उद्‌घाटित करता है। 'आषाढ़ का एक दिन' जैसी विविधता, सघनता एवं समन्विति न होते हुए भी यह नाटक राकेश की भाषा-शक्ति तथा रंगमंच एवं शिल्प के प्रति उनकी सजगता को दर्शाता है। वास्तव में इस नाटक की सबसे बड़ी उपलब्धि है - आधुनिक मनुष्य के असंतोष, आंतरिक बेचैनी की प्रामाणिक अभिव्यक्ति, जीवन का भोग एवं उससे मुक्ति की चाह तथा नाटक की सर्जनात्मकता एवं नाट्यलेखन की ईमानदारी ।

राकेश का अगला नाटक 'आधे-अधूरे' समकालीन मनुष्य के अनुभव को आम बोलचाल की भाषा में अभिव्यक्त करने के कारण उनका सबसे अधिक चर्चित नाटक है। इसका कथानक एक मध्यवर्गीय परिवार के इर्द-गिर्द घूमता है। राकेश के अन्य नाटकों की तरह केन्द्रीय प्रश्न यहाँ भी संपूर्णता की तलाश का, एक अंतहीन खोज का है, केवल परिवेश समकालीन है। यह नाटक स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की कई समस्याओं को एक साथ उद्‌घाटित करता है - पारिवारिक विघटन, दाम्पत्य

संबंधों की कटुता, आपसी रिश्तों की रिक्तता, मानवीय संबंधों का टूटना, आर्थिक विपन्नता का मनुष्य के आपसी संबंधों पर प्रभाव, स्त्री-पुरूष संबंधों का समीकरण इत्यादि। इन सबके साथ यह आधुनिक मनुष्य की अनिवार्य नियति-अपूर्णता और अधूरेपन को भी प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करता है। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है - ठोस और जानदार संवाद के साथ रंगानुकूल नाट्यभाषा की खोज। नाटक में आद्यन्त बुना हुआ आक्रोश समकालीन जीवन को आज के मुहावरे में पेश करता है। 'आधे-अधूरे' ने राकेश के नाट्यलेखन को सर्जनात्मक सार्थकता के साथ-साथ समकालीन प्रासंगिकता से भी जोड़ दिया। उनके प्रारंभिक दो नाटक अतीत की पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण हिन्दी नाटक और रंगमंच को सम्पूर्ण क्षमता से प्रभावित नहीं कर पाये। 'आधे-अधूरे' न केवल हिन्दी भाषी दर्शकों में, बल्कि अनुवाद के माध्यम से अन्य क्षेत्रों में भी लोकप्रिय हुआ, जिससे हिन्दी नाटक को आधुनिक भारतीय नाट्य साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ।

हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए यह दुर्भाग्य का विषय रहा कि राकेश की असामयिक मृत्यु हो गई और वह अपने चौथे नाटक 'पैर तले की जमीन' को अंतिम रूप नहीं दे पाये। लेकिन अपनी संपूर्ण नाट्य-यात्रा में राकेश जिस तरह नाट्य-भाषा और रंगशिल्प के नए स्तर की तलाश में थे, उससे आगे और भी सार्थक रचना होने की संभावना बची हुई थी। संख्या में सीमित होने के बावजूद राकेश के नाटकों ने आधुनिक हिन्दी नाट्यलेखन को एक व्यापक और रचनात्मक आंदोलन के रूप में एक समग्र कला-रूप देने में और भारतीय नाटकों के समकक्ष लाने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है।

मोहन राकेश के साथ-साथ कई अन्य नाटककार भी छठवें दशक के दौरान अपने-अपने ढंग से हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास में अपना योगदान कर रहे थे। इनमें सबसे महत्त्वूपर्ण नाम लक्ष्मीनारायण लाल का है। हिन्दी नाटकों को नए रंग विधान से जोड़ना, नए शिल्प प्रयोगों से समृद्ध करना, रचना प्रक्रिया को प्रस्तुतीकरण प्रक्रिया से अभिन्न रूप से जोड़कर देखना और आधुनिक संवेदना एवं नवीन विषय-भूमियों से नाटक को संपृक्त करना उनकी सबसे महत्वपूर्ण देन है। पर इन सबके बावजूद वे विचारों और चरित्रों को किसी सार्थक जीवन अनुभव के रूप में नहीं रख पाते। चरित्रों में आंतरिक एवं बाहरी संगति के अभाव के कारण वे प्रायः यांत्रिक जान पड़ते हैं। बीस से भी अधिक नाटकों की रचना के बावजूद उनकी कुछ गिनी-चुनी रचनाएँ ही प्रभावित करती हैं यथा - 'मादा कैक्टस', 'दर्पण', 'करफ्यू', 'व्यक्तिगत' और 'यक्षप्रश्न'।

लक्ष्मीनारायण लाल के अलावा मोहन राकेश के समकालीन नाटककारों में दो और नाम उल्लेखनीय हैं : सुरेन्द्र वर्मा और मुद्राराक्षस। सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में समकालीन जीवन की परिस्थितियों के दबाव से मनुष्य के कई टुकड़ों में बँटकर एक साथ कई जिंदगियाँ जीने या कुंठित होने की स्थितियों को व्यक्त किया है। यद्यपि उनके नाटकों का भावबोध काफी सीमित है, लेकिन कलात्मक संगठन, सूक्ष्म

सौंदर्यबोध एवं सक्षम तथा पैनी नाट्यभाषा कलात्मक सार्थकता को बनाए रखती है। उनकी ये विशेषताएँ उन नाटकों में अधिक दिखाई देती हैं जिनमें अतीत की पृष्ठभूमि में आधुनिक व्यक्ति अथवा समाज की समस्याओं एवं जटिलताओं के अन्वेषण की कोशिश है जैसे : 'द्रौपदी', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'आठवाँ सर्ग' तथा लघु नाटक 'सेतुबंध' एवं 'नायक-खलनायक-विदूषक'।

हिन्दी नाट्यलेखन के स्वरूपगत परिवर्तन की दृष्टि से मुद्राराक्षस के नाटक अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। जिस समय मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटक मनुष्य के अन्तर्जगत के द्वन्द्व को संवेदनशील रूप में अभिव्यक्त कर रहे थे, उस समय मुद्राराक्षस ने मानवीय त्रासदी को, सामाजिक- राजनैतिक भ्रष्टाचार को, प्रशासनिक अव्यवस्था को एवं यौन विकृतियों को सीधी चोट करती भाषा एवं नयी संवेदना के साथ अपने नाटकों में प्रस्तुत किया। 'योर्स फेथफुली', 'मरजीवा', 'तिलचट्टा', 'तेंदुआ' और 'गुफाएँ' जैसे नाटकों से मुद्राराक्षस के नाटकों के नयेपन और रचनात्मक शक्ति का पता चलता है। यद्यपि इन नाटकों के चरित्रों एवं स्थितियों के इकहरेपन एवं उनके बीच अंतर्विरोध की अनुपस्थिति के कारण नाट्य-रूप कुछ बनावटी या बेजान से लगते हैं। लेकिन संवेदना के नएपन, अभिव्यक्ति के संयम और भाषा की सक्षमता के कारण वे निस्संदेह महत्वपूर्ण नाटककार हैं।

इस प्रकार छठवें दशक के समाप्त होने तक हिन्दी नाटक और रंगमंच हिन्दी भाषी क्षेत्र की समर्थ अभिव्यक्ति के रूप में ही नहीं, बल्कि संपूर्ण भारतीय नाटक की परंपरा में अपने आपको प्रतिष्ठित करने में सफल हो सका है। इस दौरान उसने न केवल सर्जनात्मक सार्थकता प्राप्त की है बल्कि खुद को मनोरंजन के साधन की बजाए एक महत्वपूर्ण कला माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अब हिन्दी नाटक और रंगमंच ने ऐसा मुकाम हासिल कर लिया है कि प्रतिभाशाली नाटककार अब तक की नाट्यपरंपरा से प्राप्त रंगशिल्प के उपकरणों का इस्तेमाल कर सार्थक एवं उत्कृष्ट नाटकों की रचना कर सकें।

(iv) कलम का सिपाही : मोहन राकेश :-

"दुनियाँ के व्याकरण के खिलाफ जिन्दगी को जिन्दगी की तरह जीनेवाले एक नितान्त असम्भव और बेहद ईमानदार आदमी का नाम है - मोहन राकेश। वह नौकरी, घर, शहर, होटल और औरतें बदलने वाला एय्याश था या अपना वास्तविक घर तलाशता हुआ एक बेचैन मुसाफिर ? वह अत्यंत महत्वाकांक्षी आत्मकेन्द्रित व्यक्ति था या तमाम उपलब्धियों के मोह पाशों को काटकर निरंतर आगे बढ़ता हुआ सन्यासी ? वह चरम बौद्धिक था या असीम भावुक ? वह एक बहुत प्यारा यार था या निहायत घमंडी लड़ाकू ? हिन्दी के इस सबसे एक्सपोज्ड रचनाकार के विरोधाभासों की कोई कमी नहीं है।"[8]

जयदेव तनेजा ने उपरोक्त पंक्तियों में राकेश को बाँधना चाहा है पर राकेश का व्यक्तित्व सदा एक अबूझ पहेली ही बना रहा है। जितना उनको करीब से जानने का भरोसा होता है उतना ही यह अहसास उमड़ता है कि कुछ ऐसा है जो अनजाना है, अनचीन्हा है, अनदेखा है। आश्चर्य तो इस बात का है कि इतना एक्सपोज्ड होने के बावजूद राकेश कभी बासी नहीं हुए, उनको जानने की इच्छा कभी खत्म नहीं हुई।

राकेश के अनुसार -

"नीड़ में जाकर मन आकाश के लिए तड़प उठता है और आकाश में उड़ते हुए नीड़ की उष्णता पीछा करती है। मैं वह अभिशप्त हूँ, जिसे बंधन बांधता नहीं - मुक्ति, मुक्ति नहीं देती।"[9]

जिन्हें बंधना भी रास न आया और आज़ादी भी न भाई ऐसे अभिशप्त व्यक्ति थे - राकेश - जिनका पूरा जीवन व लेखन अन्तर्विरोधों से अटा पड़ा है। कभी वह एक बेहद 'उदास' व्यक्ति प्रतीत होते हैं तो दूसरे ही क्षण उनके ठहाकों से गूँजते रेस्तराँ हमें अपनी धारणा बदलने पर मजबूर करते हैं। अपनी दादी से सुना था कि छोटा बच्चा भी 'घर' की चाहत रखता है तभी तो रेत के घरौंदे बनाता रहता है ... ... और राकेश - वह तो जैसे जीवन पर्यंत मृगमरीचिका की तरह 'घर' को पकड़ने की, महसूस करने की कोशिश करते रहे पर 'घर' उन्हें सदा ही छलता रहा, भरमाता रहा। उन्होंने लिखा भी है :

"मुझे घर चाहिए .. .. .. अपना घर। मुझे जिन्दगी में और सब कुछ मिला .. .. .. सिर्फ एक घर ही नहीं मिला। मैं कहाँ-कहाँ इसके लिए नहीं भटका .. .. .. क्या क्या इसके लिए नहीं किया .. .. .. लेकिन पता नहीं क्यों 'घर' नामकी चीज़ हमेशा मुझसे रुसवा रही। दो बार मैंने इसे पाने का विश्वास अपने में भरा और दोनों ही बार मुझे खुद ही उससे भागना पड़ा। मैं नहीं जानता कि क्या मुझे ही घर से एलर्जी है या घर को ही मुझसे एलर्जी है।"[10]

राकेश ने जीवन भर यंन्त्रणा झेली-'अपने आप की यंत्रणा'। जो चाहते थे वह सब न कर पाने की, न लिख पाने की यंत्रणा। अपने आस-पास की ज़िंदगी, अपने अन्दर घटित होती ज़िंदगी को वे पूरी ईमानदारी के साथ व्यक्त करना चाहते थे पर परिणाम के रूप में जो सामने आता उससे वह सदा असंतुष्ट ही रहे। यही कारण है कि अपनी कई रचनाओं को उन्होंने अधूरा ही छोड़ दिया। उन्होंने कभी जीने के लिए, सम्बन्धों के निर्वाह के लिए डिप्लोमेसी का सहारा नहीं लिया। जीवन में कभी कोई गैर मुआफिक समझौता नहीं किया। स्थितियों की उलझनें अपनी जगह थीं - बनी रहीं - पर वह इस अडियल व्यक्ति को झुका नहीं पाई, तोड़ नहीं पाई । राकेश ने अपना पूरा जीवन अपनी शर्तों पर जिया - न कभी झुके, न टूटे।

शीर्षस्थ रंगकर्मी इब्राहिम अल्काजी ने लिखा है -

"कुछ नाटककारों में बीज बोने की क्षमता होती है। अपने लेखन से वे ऐसे वातावरण का सृजन करते हैं जिससे दूसरों में प्रतिक्रिया होती है और लिखने की प्रेरणा मिलती है। मोहन राकेश ऐसे ही नाटककार थे।"[11]

बीज-वपन की क्षमता निःसंदेह राकेश में थी। उन्होंने माना कि आज से सम्बद्ध होने का केवल एक अर्थ है और वह है आने वाले कल की दिशा में देखते हुए आज की दहलीज छोड़ने का प्रयत्न। राकेश ने विगत से सीख लेते हुए, अनागत की परवाह न कर केवल वर्तमान में जीकर, सच को भोगकर लिखा और सिर्फ अपना सच ही कहा :

"मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर दोहराया। और जब उससे हटकर लिखना चाहा, तो रचना प्राणवान नहीं हुई।"[12]

यह सच है कि मोहन राकेश का कैन्वस प्रसाद की तरह विराट, विशाल नहीं था, उन्होंने जीवन के उन्हीं अंशों को अपनी तूलिका से उकेरा जिनसे उनकी भली-भाँति पहचान थी। पर जिन संबंधों पर, मानवीय व्यवहार पर, सामाजिक संश्लिश्टता पर, जीवन की जटिलता पर, आर्थिक शिकंजे पर, सृजन की पीड़ा पर राकेश ने लिखा उन विषयों पर उनसे अच्छा लिखने का साहस भी कोई जुटा नहीं पाया। उनके नाटक दिलवाड़ा के मंदिरों की तरह बारीक पच्चीकारी की मिसाल हैं, जिन्हें उन्होंने नई नाट्यभाषा और रंगमंचीय समझ से सजाया। उन्होंने नाटककार के रोल को नए मायने दिये। रंगमंच की पूरी प्रयोग प्रक्रिया में नाटककार को केवल एक सम्मानित दर्शक की भूमिका में देखना उन्हें गवारा न था।

राकेश ने प्रतिबद्धता को लेखन की अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकारा। उनके अनुसार लेखक को प्रतिबद्ध तो होना ही चाहिए, लेकिन किसी विशेष परिभाषित विचारधारा से नहीं । जहाँ लेखक प्रतिबद्ध है - अपने आपसे, समय की उभरती हुई यथार्थता से, अपने समाज के प्रति और अपने देश-काल के प्रति। इसलिए उसे अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप के प्रति हर समय बहुत ही सावधान और सचेत रहना होता है। राकेश के अनुसार साहित्य रचना राजनीतिक प्रक्रिया से बुनियादी रूप से भिन्न होती है क्योंकि :

"पार्टी ह्विप से राजनीतिक स्ट्रेटजी का निर्णय तो किया जा सकता है, परन्तु पार्टी ह्विप से साहित्य रचना नहीं हो सकती, क्योंकि साहित्य-रचना एक स्ट्रैटजी नहीं है, एक मूल्यांकन है। मूल्यांकन गलत हो यह और बात है। साहित्यकार में इतना साहस भी होना चाहिए कि वह स्वीकार कर सके कि उसका किया हुआ मूल्यांकन ठीक नहीं था।"[13]

राकेश का समस्त रचना-कर्म एक निर्भीक रचनाकार का देखा, परखा, जाना, भोगा हुआ यथार्थ है। उनकी प्रतिबद्धता कभी शक के घेरे में नहीं आई। उन्होंने खुद

से किए वादे को अंत तक निभाया। जीवन के सघन अनुभव खंडों को राकेश के नाटकों ने मूर्त किया।

बासु भट्टाचार्य ने लिखा है : "विचित्र विरोधों को अपने स्वाभाव में लिए हुए है यह आदमी। नदी का-सा व्यक्तित्व है इसका। निरन्तर चलते रहकर भी अपने स्थान पर बने रहना, अपने स्थान पर बने रहकर भी निरंतर चलते जाना, यह स्वभाव राकेश का है। हर समय खुश, पर उस खुशी में उदास। खुशी में उदास और उदासी में खुश।

अनेक विरोधी गुण एक आदमी के स्वभाव में हों, तो जिन्दगी का रास्ता उसके लिए काफी जटिल हो उठता है।"[14]

यही जटिलता, द्वन्द्व, उदासी, अनिश्चितता एवं खोज उनके पात्रों में झलकती है। उनका अपना चरित्र ही उनके पात्रों की अनिश्चितता, उदासी और खोज का स्रोत है।

1950 से लेकर 1972 तक राकेश हर क्षण परिवर्तित होते रहे। उनके बदलते हुए हस्ताक्षर एवं हस्तलेख इस बात का प्रमाण हैं। वह कहते हैं :

मैं 'ईवननैस' बर्दाश्त नहीं कर सकता। मैं हमेशा 'अनईवन' रहना चाहता हूँ। 'अनईवननेस' में ही सस्पेंस है, थ्रिल है, मज़ा है।

20/4/51 को अपने मित्र गिरधारी लाल वैद को उन्होंने स्पष्ट लिखा है :

"शांति में स्थिरता होती है और स्थिरता से मैं डरता हूँ।"[15]

यही वज़ह है कि वह सदा गतिशील रहे, जीवन की गति ने उन्हें एवं उनके साहित्य को निरंतर प्रवाहमान रखा।

डॉ. जयदेव तनेजा ने 'एक अनूठा विद्रोही' शीर्षक लेख में लिखा है :

"राकेश का जीवन और लेखन एक प्रयोगशाला की तरह थे, जिसमें उन्होंने स्वयं अपने और अपने समय, समाज और परिवेश के सत्य को पूरी ईमानदारी, सच्चाई, सूक्ष्मता तथा गहराई से जीने, जानने और जाँचने-परखने की बार-बार कोशिश की। यह अनवरत और अनंत तलाश ही जैसे उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की धुरी है। स्वयं को संबोधित करते हुए उन्होंने 1 जून 1957 को अपनी डायरी में लिखा था कि ".. .. तू हवा और पानी का साथी है, उनके साथ मिलकर उनकी तरह ही जी - जीवन में ख्याति या प्राप्ति तेरी उपलब्धि नहीं है। तेरी उपलब्धि तेरी खोज है। खोज और जी।"[16]

अपनी आंतरिक और बाह्य प्रकृति के साथ एकात्म होकर जीने और तमाम उपलब्धियों को ठोकर मारकर प्रति पल नई चुनौतियाँ खोजनेवाले राकेश सचमुच एक अनूठे विद्रोही थे।

(V) आत्म-बिम्ब :

मदनमोहन गुगलानी उर्फ मदनमोहन राकेश उर्फ मोहन राकेश उर्फ राकेश

जन्म : 8 जनवरी, 1925, जंडीवाली गली, अमृतसर।

शिक्षा : संस्कृत में शास्त्री, अंग्रेजी में बी.ए., संस्कृत और हिन्दी में एम.ए.।

नौकरी : लाहौर, बम्बई, शिमला, जालंधर और दिल्ली में फिल्म, अध्यापन, सम्पादन .. और अन्ततः स्वतंत्र लेखन।

मृत्यु : 3 दिसम्बर 1972, नई दिल्ली।

नाट्य कृतियाँ :

आषाढ़ का एक दिन	(1958, विशिष्ट संस्करण 1961)
लहरों के राजहंस	(1963, नए रूप में 1968)
आधे-अधूरे	(1969)

मरणोपरान्त प्रकाशित :

अंडे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज नाटक	(1973)
रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि नाटक	(1974)
पैर तले की ज़मीन	(1975)

उपन्यास :

अंधेरे बंद कमरे (1961), न आनेवाला कल (1970), अन्तराल (1972), स्याह और सफेद (इसका एक अंश 1972 में सारिका में छपा), काँपता हुआ दरिया (नई कहानियाँ में मार्च 1964 से जून 1964 तक प्रकाशित अधूरा उपन्यास), नीली रोशनी की बाँहें (1962 में धर्मयुग में चौदह किश्तों में प्रकाशित 'अंतराल' का पूर्व रूप)।

अनुवाद :

शाकुन्तल (कालिदास), मिट्टी की गाड़ी (शूद्रक), एक औरत का चेहरा (हेनरी जेम्स), हिरोशमा के फूल (एदिता मारिस)।

कहानी संग्रह :

इंसान के खंडहर (1950), नए बादल (1957), जानवर और जानवर (1958), एक और जिन्दगी (1961), फौलाद का आकाश (1966), क्वार्टर तथा अन्य कहानियाँ (1972), पहचान तथा अन्या कहानियाँ (1972), वारिस तथा अन्य कहानियाँ (1972), एक घटना तथा अन्य कहानियाँ (1974), मोहन राकेश की संपूर्ण कहानियाँ (1974)।

यात्रा वृत्त :

आखिरी चट्टान तक (1958)

लेख, निबन्ध, साक्षात्कार :

परिवेश (1957), बकलम खुद (1974), साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि (1975)।

डायरी :

मोहन राकेश की डायरी : सम्पादक - कमलेश्वर (1985)

पुरस्कार : सम्मान

सर्वश्रेष्ठ नाटक का अकादमी पुरस्कार (1959 : आषाढ़ का एक दिन)

संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार 1971 (आधे-अधूरे)

संगीत कला मंदिर पुरस्कार 1973, नेहरू फैलोशिप, सैंसर बोर्ड की सदस्यता, फिल्म वित्त निगम का निदेशकत्व, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की कार्यकारिणी समिति की सदस्यता, पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा 'मोहन राकेश स्वर्ण पदक' की स्थापना

संदर्भ सूची :

1. Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth - Cicero's phrase as quoted by AEelius Donatus (The theory of drama - A. Nicoll - Page 24
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल : पृ. 432
3. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : डॉ. रामविलास शर्मा : - पृ. 2
4. हिन्दी नाटक और रंगमंच : नई दिशाएँ नए प्रश्न : गिरीश रस्तोगी : - पृ. 17
5. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच : नेमिचन्द्र जैन, (आधुनिक हिन्दी नाटक : सार्थकता की दिशाएँ) - पृ. 122
6. मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक : (संपादित, नेमिचन्द्र जैन), भूमिका - पृ. 8
7. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच : नेमिचन्द्र जैन, - पृ. 124
8. मोहन राकेश नाट्य समारोह (3-20 दिसम्बर 1992) की स्मारिका : (हिन्दी रंगादोलन और मोहन राकेशः डॉ. जयदेव तनेजा), पृ. 24
9. मोहन राकेश नाट्य समारोह (3-20 दिसम्बर 1992) की स्मारिका : पृ. 8
10. चन्द सतरें और : अनीता राकेश, पृ. 76
11. दिनमान : 25-31 जनवरी, 1976 (ठोंकपीट अच्छी बात नहीं : इब्राहिम अल्काजी) पृ. 33
12. आषाढ़ का एक दिन : मोहन राकेश - पृ. 102
13. साहित्य और संस्कृति : मोहन राकेश - पृ. 12
14. उपरोक्त - पृ. 166
15. मोहन राकेश : रंगशिल्प और प्रदर्शन - डॉ. जयदेव तनेजा , पृ. 21
16. उपरोक्त - पृ. 22